आह्वान पुस्तिका–2

आरक्षण
पक्ष, विपक्ष
और
तीसरा पक्ष

सम्पादक मण्डल
'आह्वान कैम्पस टाइम्स'

राहुल फ़ाउण्डेशन
लखनऊ

ISBN 978-81-907310-8-9

मूल्य : रु. 10.00

पहला संस्करण : जुलाई 2006
पहला पुनर्मुद्रण : जनवरी 2009
दूसरा पुनर्मुद्रण : नवम्बर 2010

प्रकाशक : **राहुल फ़ाउण्डेशन**
69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : **रामबाबू**

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : क्रिएटिव प्रिण्टर्स, 628/एस-28, शक्तिनगर, लखनऊ

Arakshan: Paksh, Vipaksh aur Teesra Paksh
Editorial article published in 'Aahwan'

आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष

मानव संसाधन विकास मन्त्री अर्जुन सिंह द्वारा मेडिकल, इंजीनियरिंग और मैनेजमेण्ट सहित सभी उच्च शिक्षण संस्थानों में पिछड़ी जातियों के लिए सत्ताइस प्रतिशत आरक्षण की घोषणा के साथ ही देश का युवा समुदाय काफ़ी हद तक परस्पर-विरोधी दो हिस्सों में बँट गया है। महँगाई, बेरोज़गारी, आम मेहनतकश जनता के लगातार छिनते अधिकारों, धनी-ग़रीब के बीच की लगातार बढ़ती खाई, लगातार बढ़ती देशी-विदेशी पूँजीवादी लूट-खसोट जैसे तमाम बुनियादी मसले, जो ज़्यादा से ज़्यादा ज्वलन्त होते जा रहे थे, एक बार फिर पीछे धकेल दिये गये हैं। आम जनता और विशेषकर उसके वे नौजवान बेटे-बेटियाँ ही जातिगत लाइन पर आपस में बँट गये हैं, जिनके कन्धों पर साम्राज्यवाद और पूँजीवाद से फ़ैसलाकुन संघर्ष छेड़कर जनमुक्ति की नयी परियोजना को अमली जामा पहनाने की ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी है।

बेशक, जातिगत उत्पीड़न और भेदभाव का सवाल भारतीय समाज का एक सर्वाधिक बुनियादी और अहम सवाल है। शताब्दियों पुराने जातिगत पूर्वाग्रह और पार्थक्य आज भी अधिकांश आम भारतीय नागरिक के संस्कारों में गहराई से रचे-बसे हैं। फ़र्क़ यह है कि कहीं इसकी नग्न-निरंकुश अभिव्यक्ति देखने को मिलती है तो कहीं इसका बारीक और "सुघड़" रूप सामने आता है। इसमें भी सन्देह नहीं कि दलित और कुछ पिछड़ी जातियाँ जातिगत अपमान और उत्पीड़न के अतिरिक्त, आबादी में अपने अनुपात के मुक़ाबले, सामाजिक-आर्थिक हैसियत में भी सवर्ण जातियों की तुलना में आज भी काफ़ी पीछे हैं। कुछ पिछड़ी जातियों ने आज़ादी के बाद के वर्षों में, गाँवों में पूँजीवादी फ़ार्मरों-कुलकों के रूप में अपनी स्थिति मज़बूत की है और पूँजीवादी चुनावी राजनीति में भी उनकी भागीदारी सशक्त हुई है, लेकिन शहरी रोज़गारों और

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 3 20/01/2014, 10:38 AM

स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों में वे आज भी काफ़ी पीछे हैं। पूँजी की सर्वग्रासी मार ने सवर्ण जातियों की एक भारी आबादी को भी सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा और परेशानहाल आम निम्न-मध्य वर्ग की क़तारों में धकेल दिया है, लेकिन तस्वीर का दूसरा पहलू यह भी है कि औपनिवेशिक काल तक की अर्द्धसामन्ती सामाजिक संरचना में जो दलित और पिछड़ी जातियाँ सबसे नीचे की परतों के रूप में पिस रही थीं, उनमें से अधिकांश आज के पूँजीवादी पद-सोपान-क्रम में भी सबसे नीचे के पायदानों पर खड़ी हैं। उन्हें "ऊपर उठाने" के तमाम सरकारी उपक्रमों ने दलित आबादी के एक अत्यन्त छोटे हिस्से को सरकारी नौकरियों की (उनमें भी ज़्यादातर छोटी नौकरियाँ) सुविधा दी है और इसके बदले गाँवों-शहरों में उजरती ग़ुलामी का नारकीय जीवन बिताने वाली बहुसंख्यक दलित आबादी के प्रति आम ग़रीब एवं मध्यवर्गीय सवर्ण आबादी में पहले से ही मौजूद जातिगत पूर्वाग्रह, विग्रह एवं घृणा को नये सिरे से खाद-पानी देने का काम किया है।

पिछड़ी जातियों की स्थिति थोड़ी-सी भिन्न है। आज़ादी के बाद भारतीय खेती के पूँजीवादीकरण के साथ ही ज़मीन का मालिक बने किसानों के जिस तबके ने बाज़ार के लिए पैदा करके मुनाफ़ा कमाने वाले पूँजीवादी फ़ार्मरों-भूस्वामियों-कुलकों के रूप में विकास किया, यदि उसकी जातिगत पृष्ठभूमि को देखा जाये तो पता चलेगा कि वह अधिकांशतः काश्तकारी करने वाली जाट, मराठा, रेड्डी, कम्मा, कुर्मी, सैंथवार, कोइरी, यादव आदि पिछड़ी जातियों से मिलकर बना था। अपनी बढ़ती आर्थिक शक्ति के हिसाब से इन जातियों के प्रभावी लोगों ने पूँजीवादी चुनावी राजनीति में भी अपनी भागीदारी बढ़ायी, कई राज्यों में अलग-अलग हदों तक द्विज जाति के धनिकों को सत्ता से विस्थापित भी किया तथा नये ग्रामीण परिदृश्य में दलितों के (जिनमें से अधिकांश खेत मज़दूर ही हैं) नये उत्पीड़क के रूप में सामने आये। लेकिन इस दिखायी पड़ने वाली सच्चाई के पीछे की यह मूल सच्चाई प्रायः नज़रों से ओझल कर दी जाती है कि भारत की हज़ारों पिछड़ी जातियों में से मुश्किल से दर्जनभर को छोड़कर, अन्य की स्थिति आर्थिक-सामाजिक

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 4 20/01/2014, 10:38 AM

हैसियत की दृष्टि से लगभग दलितों जैसी, या उनसे कुछ ही ऊपर है। और पूँजीवादी फ़ार्मरों-भूस्वामियों-कुलकों में जिन पिछड़ी जातियों की बहुलता है, उन पिछड़ी जातियों का भी 70-80 प्रतिशत हिस्सा आज निम्न मध्यवर्गीय किसान, ग्रामीण व शहरी निम्न-मध्य वर्ग तथा सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा के रूप में ही ज़िन्दगी बसर कर रहा है। पूँजी की लगातार बढ़ती मार उन्हें उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़कर गाँवों में, और उससे भी अधिक शहरों में, मज़दूरी और दफ़्तरी नौकरी-चाकरी की तलाश के लिए विवश कर रही है। और यह सब कुछ भूमण्डलीकरण के ऐसे दौर में हो रहा है जब चारों ओर "रोज़गारविहीन विकास" का बोलबाला है। नौकरियाँ लगातार घट रही हैं और बेरोज़गारी लगातार बढ़ रही है।

ऐसे समय में सत्ताधारी वर्ग जब नौकरियों या उच्च शिक्षा में आरक्षण का लुकमा फेंकते हैं तो पहले से नौकरियों पर आश्रित, मध्यवर्गीय, सवर्ण जातियों के छात्रों और बेरोज़गार युवाओं को लगता है कि आरक्षण की बैसाखी के सहारे दलित और पिछड़ी जातियाँ उनके रोज़गार के रहे-सहे अवसरों को भी छीन रही हैं। वे इस ज़मीनी हक़ीक़त को नहीं देख पाते कि वास्तव में **रोज़गार के अवसर ही इतने कम हो गये हैं कि यदि आरक्षण को एकदम समाप्त कर दिया जाये तब भी सवर्ण जाति के सभी बेरोज़गारों को रोज़गार नहीं मिल पायेगा। इसी तरह दलित और पिछड़ी जाति के युवा यह नहीं देख पाते कि यदि आरक्षण के प्रतिशत को कुछ और बढ़ा दिया जाये और यदि वह ईमानदार और प्रभावी ढंग से लागू कर दिया जाये, तब भी दलित और पिछड़ी जातियों के पचास प्रतिशत बेरोज़गार युवाओं को भी रोज़गार नसीब न हो सकेगा। उनके लिए रोज़गार के जो थोड़े से नये अवसर उपलब्ध होंगे, उनका भी लाभ मुख्यतः मध्यवर्गीय बन चुके दलितों और आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक रूप से प्रभावशाली पिछड़ी जातियों के लोगों की एक अत्यन्त छोटी-सी आबादी के खाते में ही चला जायेगा तथा गाँवों-शहरों में सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा का जीवन बिताने वाली बहुसंख्यक आबादी**

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 5 20/01/2014, 10:38 AM

को इससे कुछ भी हासिल नहीं होगा।

ज़रूरत इस बात की है कि सदियों पुराने जातिगत पूर्वाग्रहों और शासक वर्गों की कुटिल चालों का शिकार होने के बजाय इस देश का युवा समुदाय इन बुनियादी प्रश्नों पर विचार करे कि भारतीय समाज को गहराई से ग्रसे 'जाति के ज़हर' को जड़मूल से समाप्त करने की, जातिगत बँटवारे को समाप्त करने की तथा बर्बर जातिगत उत्पीड़न और घोर जातिगत अपमान से दलित एवं विभिन्न पिछड़ी जातियों की अन्तिम मुक्ति की परियोजना क्या होगी? ज़रूरत इस सवाल पर सोचने की है कि जातिगत भेदभाव और बँटवारे को भारतीय जनता की मुक्ति और एक समतामूलक समाज के निर्माण के ऐतिहासिक क्रान्तिकारी प्रोजेक्ट का बुनियादी और अविभाज्य अंग किस प्रकार बनाया जाये? इन्हीं बुनियादी सवालों के मद्देनज़र हम आरक्षण के पक्ष और विपक्ष में बँटे तर्कशील, ईमानदार, संवेदनशील छात्रों-नौजवानों से चन्द दो-टूक बातें करना चाहते हैं।

आरक्षण के विरोधियों से

उच्च शिक्षण संस्थानों में पिछड़ों को सत्ताईस प्रतिशत आरक्षण देने का प्रस्ताव जब सामने आया तो इसके विरुद्ध सर्वप्रमुख तर्क यह दिया गया कि इससे भारत में स्वास्थ्य सेवाओं का स्तर नीचे आ जायेगा, यह आम जनता के जीवन से खिलवाड़ होगा, इससे वैज्ञानिक शोध का स्तर प्रभावित होगा और देश की प्रगति प्रभावित होगी... वग़ैरह-वग़ैरह। लेकिन यह तो बताइये कि जिस "चिन्ता" के चलते आप योग्यता का यह तर्क गढ़ रहे हैं, उस "चिन्ता" के आधार पर तो आपको एन.आर.आई. कोटे के तहत और कैपिटेशन फ़ीस के आधार पर मेडिकल और इंजीनियरिंग कॉलेजों में प्रवेश के बरसों पहले लागू फ़ैसले का भी विरोध करना चाहिए था? लेकिन इस मसले पर तो आपने चूँ भी नहीं किया! क्या अनिवासी भारतीयों और दस-दस लाख रुपये तक कैपिटेशन फ़ीस दे सकने वाले देशी धन्ना सेठों की सभी औलादें प्रतिभाशाली ही पैदा होती

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 6 20/01/2014, 10:38 AM

हैं? इन संस्थानों में दाख़िले के लिए धनिकों की जमात अपने कुलदीपकों की कोचिंग पर लाखों रुपये ख़र्च कर देती है। यदि आप इंसाफ़पसन्द हैं और योग्यता को लेकर चिन्तित हैं तो फिर आपने कभी सरकार से इस तरह की माँग क्यों नहीं की कि वह या तो ऐसे प्राइवेट कोचिंग संस्थानों पर रोक लगाकर सभी अभ्यर्थी छात्रों के लिए निःशुल्क या सस्ती कोचिंग की समान व्यवस्था लागू करे या फिर दलितों, अन्य पिछड़ी जातियों और वंचित तबकों के लिए अलग से निःशुल्क कोचिंग का प्रावधान करे ताकि कोई योग्य व्यक्ति महज़ आर्थिक-सामाजिक कारणों से इन संस्थानों में प्रवेश से वंचित न रह जाये! यदि आप वास्तव में इंजीनियरिंग, मेडिकल और वैज्ञानिक शोध के गिरते स्तर की आशंका और इन क्षेत्रों में अयोग्य लोगों के प्रवेश को लेकर चिन्तित हैं, तो आपने मेडिकल, इंजीनियरिंग, पैरामेडिकल, तकनीकी और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में लगातार तेज़ होती जा रही निजीकरण की लहर का कभी विरोध क्यों नहीं किया, जिसके चलते शिक्षा मात्र व्यापार या पैसे का खेल होकर रह गयी है! लाख योग्यता हो, पैसे और पहुँच के अभाव में आगे बढ़ पाने की रही-सही सम्भावनाएँ भी लगातार सिकुड़ती जा रही हैं! क्या आप इसके विरोध में भी कभी शामिल हुए हैं?

अच्छा, तो आप देश की प्रगति को लेकर चिन्तित हैं! लेकिन यह तो बताइये, प्रति वर्ष हज़ारों डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक इस देश की आम जनता के ख़ून-पसीने से अर्जित संसाधनों से डिग्रियाँ हासिल करने के बाद, ज़्यादा से ज़्यादा पैसा पीटने के लिए अमेरिका और यूरोप की राह पकड़ लेते हैं! क्या आपने इस प्रवृत्ति का और इसे बढ़ावा देने वाली सरकारी नीतियों का कभी विरोध किया? यह तो आप जानते ही होंगे कि लाखों रुपये कैपिटेशन फ़ीस और महँगी फ़ीस चुकाने के बावजूद, एक डॉक्टर, इंजीनियर या वैज्ञानिक तैयार होने में अस्सी फ़ीसदी से भी अधिक ख़र्च सरकारी होता है, जो आम जनता से परोक्ष करों के रूप में वसूली गयी धनराशि से आता है! तब क्या ऐसे लोगों को आप देशद्रोही या जनद्रोही मानते हैं जो आम जनता के बूते पर विशेषज्ञता अर्जित करने के बाद, ख़ुद डॉलर-पौण्ड बटोरने के लिए विदेश भाग जाते हैं और

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 7 20/01/2014, 10:38 AM

अपनी योग्यता से उन्हीं साम्राज्यवादियों की सेवा करते हैं जो सालाना हमारे देश से अरबों-खरबों रुपये मुनाफ़ा, रॉयल्टी और सूद के रूप में लूट ले जाते हैं। आप कहेंगे कि ऐसा इस देश में रोज़गार के अवसर और योग्यता की पूछ नहीं होने के कारण होता है! लेकिन तब आप सरकार की उन नीतियों का विरोध क्यों नहीं करते जो लगातार 'रोज़गारविहीन विकास' को बढ़ावा दे रही हैं? अगर आप न्यायशील हैं तो आप उस सामाजिक-राजनीतिक ढाँचे के विरोध में क्यों नहीं खड़े होते, जिसमें विकास के कार्यों और स्वास्थ्य सेवाओं के व्यापक विस्तार की ज़रूरत तथा हर प्रकार के प्राकृतिक संसाधनों एवं योग्य लोगों की मौजूदगी के बावजूद डॉक्टरों-इंजीनियरों-वैज्ञानिकों तक को रोज़गार नहीं मिलता?

आप स्वास्थ्य सेवाओं का स्तर गिरने की आशंका से यदि बेहाल हैं तो इस बात के ख़िलाफ़ कभी आवाज़ क्यों नहीं उठाते कि सरकारी अस्पताल भ्रष्टाचार और दलाली के अड्डे बने हुए हैं, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों पर तैनात अधिकांश सरकारी डॉक्टर वहाँ जाने के बजाय प्राइवेट प्रैक्टिस करके पैसा कूटते हैं और मुफ़्त तनख़्वाह भी उठाते हैं तथा एम्स जैसे संस्थान और मेडिकल कॉलेज मुख्यत: वी.आई.पी. लोगों और धनपतियों की सेवा करते हैं। इस जर्जर व्यवस्था को सुधारने के बजाय सरकार स्वास्थ्य सेवाओं का भी अन्धाधुन्ध निजीकरण कर रही है। प्राइवेट संस्थानों और नर्सिंग होमों में इलाज करा पाने में अक्षम आम लोग सामान्य रोगों का शिकार होकर मरने और नीमहकीमों की शरण में जाने को विवश होते हैं। बहुराष्ट्रीय फ़ार्मास्युटिकल कम्पनियाँ लोगों को गिनीपिग के रूप में और डॉक्टरों का अपने एजेण्ट के रूप में इस्तेमाल करती हैं और उनका मुनाफ़ा अँधेरगर्दी भरी लूट से कम कुछ भी नहीं होता। यदि आप जनता के स्वास्थ्य को लेकर चिन्तित होते तो इस सवाल पर भी तो कभी आवाज़ उठाते! क्यूबा जैसे देशों की बात छोड़ भी दें तो दुनिया के कई, भारत से भी पिछड़े देशों में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति भारत से कई गुना बेहतर है! क्या आपने इस प्रश्न पर भी कभी सोचा है? आपको लगता है कि आरक्षण से अयोग्य लोग डॉक्टर बन जायेंगे और स्वास्थ्य सेवाओं का स्तर गिर जायेगा! लेकिन तमिलनाडु में तो मेडिकल

शिक्षा में दलितों और पिछड़ों के लिए आरक्षण काफ़ी पहले से लागू है और वहाँ मानव स्वास्थ्य सूचकांक अन्य अधिकांश राज्यों से बेहतर है! इसके बारे में आप क्या कहेंगे?

ये सभी सवाल उठाने के पीछे जो हमारा मूल मन्तव्य है, वह आप समझ चुके होंगे। सच्चाई यह है कि आरक्षण के विरोध की वर्तमान लहर के पीछे (पहले की तरह) मूलतः और मुख्यतः योग्यता, न्याय और राष्ट्रहित की कोई चिन्ता नहीं बल्कि सदियों पुराने, गहरे, दलित और पिछड़ा विरोधी जातिगत पूर्वाग्रहों, घृणा और प्रतिक्रियावादी संस्कारों की अहम भूमिका है। सवर्ण जाति का शिक्षित मध्य वर्ग यह सोचता है कि आरक्षण के कारण अब दलित और पिछड़े भी उनके बराबरी में आ जायेंगे और उनके विशेषाधिकारों में बाँट-बखरा करने लगेंगे। वह यह नहीं सोचता कि एक न्यायसंगत जनवादी व्यवस्था में सभी को शिक्षा, स्वास्थ्य और रोज़गार का बुनियादी अधिकार है और लड़ाई ऐसी एक व्यवस्था की स्थापना के लिए होनी चाहिए। इसके बजाय, सरकार जैसे ही आरक्षण का शिगूफ़ा उछालती है, वह सोचता है कि पहले से ही सिकुड़ते शिक्षा और रोज़गार के अवसर इन दलितों और पिछड़ों के कारण अब और कम हो जायेंगे और समान एवं निःशुल्क शिक्षा तथा सबको रोज़गार के समान अवसर के सार्विक अधिकार के मसले पर निर्णायक संघर्ष की दीर्घकालिक तैयारी के बजाय वह आरक्षण का विरोध करने में जुट जाता है। इसके लिए **न्याय और राष्ट्रहित के चाहे जितने तर्क गढ़े जायें, वास्तव में इसके पीछे गहन दलित-विरोधी और पिछड़ी जाति-विरोधी मानवद्वेषी, प्रतिक्रियावादी भावना और सदियों पुराने जातिगत प्रतिक्रियावादी संस्कार काम कर रहे होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'यूथ फॉर इक्वैलिटी' के बैनर तले संचालित रैलियों में क्षत्रिय स्वाभिमान मंच, सवर्ण अधिकार मोर्चा, ब्राह्मण अधिकार मंच और मनुवादी मोर्चा जैसे बैनर नहीं दिखायी देते। ये बैनर बताते हैं कि आरक्षण का विरोध करने वाली मुख्यधारा सवर्णता और द्विजता की ज़मीन पर खड़ी होकर अपने विशेषाधिकारों की हिफ़ाज़त करना चाहती है।** इसी के चलते दलित और पिछड़ी

जातियों के आम लोगों में भी, स्वाभाविक तौर पर, जातिगत आधार पर एक प्रतिक्रिया पैदा होती है और समस्या की तह तक पहुँचने के बजाय और जाति-प्रश्न के निर्णायक एवं अन्तिम समाधान की किसी क्रान्तिकारी, आमूलगामी परियोजना पर सोचने-विचारने के बजाय वे आरक्षण के समर्थन में आँख मूँदकर खड़े हो जाते हैं। नतीजतन, आम आबादी का जातिगत पार्थक्य और द्वेषभाव एक बार फिर गहरा हो जाता है, उसे फिर एक नयी ख़ुराक मिल जाती है। शासक वर्गों की चालबाज़ी एक बार फिर सफल हो जाती है और साम्राज्यवादी-पूँजीवादी लूट और अँधेरगर्दी के विरुद्ध सभी शोषितों-उत्पीड़ितों को एकजुट करने की कोशिशों पर वे एक बार फिर प्रभावी ढंग से चोट कर पाने में सफल हो जाते हैं।

अब हम इसी प्रश्न पर आरक्षण के समर्थकों से भी चन्द दो-टूक बातें करना चाहते हैं।

आरक्षण के समर्थकों से

तमाम सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों और पूँजीवादी आर्थिक विकास के बावजूद, राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लगभग छह दशक बाद भी हमारे देश में जाति का ज़हर समाज के पोर-पोर में मिला हुआ है। दलित जातियाँ न केवल अपमानजनक सामाजिक पार्थक्य और बर्बर सामाजिक उत्पीड़न की शिकार हैं, बल्कि आर्थिक तौर पर भी लगभग नब्बे फ़ीसदी दलित आबादी पूँजीवादी समाज के "नये ग़ुलामों"–उजरती मज़दूरों की क़तारों में खड़ी है। पिछड़ी जातियों की स्थिति उनसे कुछ भिन्न है और देश के कई हिस्सों में इनका एक हिस्सा पूँजीवादी धनी किसान बनकर गाँवों के स्तर पर शोषक-शासक जमात में शामिल हो गया है, दलित जातियों का नया उत्पीड़क बनकर उभरा है तथा गाँवों से लेकर राज्यों और देश के केन्द्रीय राजनीतिक तन्त्र तक में इसकी वर्गीय स्थिति के अनुरूप हिस्सेदारी भी बनी है, लेकिन शिक्षा, शहरी नौकरियों, प्रशासन और स्वतन्त्र व्यवसायों में इसकी भागीदारी अभी सानुपातिक रूप से काफ़ी कम है और इसका आधार मुख्यत: कृषि अर्थव्यवस्था बना हुआ

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 10 20/01/2014, 10:38 AM

है। लेकिन इससे भी अहम बात यह है कि कुछ पिछड़ी जातियों के एक छोटे से हिस्से को छोड़कर, उनका बड़ा हिस्सा और अन्य अधिकांश पिछड़ी जातियाँ सामाजिक–आर्थिक तौर पर दलितों के ही समकक्ष या उनसे कुछ ही ऊपर हैं तथा आर्थिक तौर पर उनकी स्थिति सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा या निम्न–मध्य वर्ग से आगे की क़तई नहीं है। इनका जो हिस्सा कृषि अर्थव्यवस्था में मुनाफ़ाख़ोर वर्ग और ग्रामीण समाज के स्वामी वर्ग का हिस्सा बन चुका है, वह तो कालान्तर में पैसे की ताक़त से उच्च शिक्षा और नौकरियाँ हासिल करके शहरी अभिजन समाज का अंग (या समकक्ष) बन भी जायेगा, लेकिन पिछड़ी जातियों की बहुसंख्यक ग़रीब आबादी तो पूँजीवादी समाज की असमानतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में लगातार पिछड़ती ही चली जायेगी।

भारतीय समाज की इस नंगी, क्रूर और वीभत्स सच्चाई के मद्देनज़र, यदि भावुकतापूर्ण ढंग से उद्विग्नचित्त होकर सोचा जाये तो दलितों और पिछड़ों के लिए शिक्षा और नौकरियों में आरक्षण का फ़ार्मूला न्यायसंगत प्रतीत होता है। लेकिन गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दलितों और पिछड़ी जातियों की वास्तविक सामाजिक–आर्थिक स्थिति में, वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के फ़्रेमवर्क के भीतर, आरक्षण या ऐसे किसी भी प्रावधान से कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होने वाला है। **आरक्षण का मूल मन्तव्य सदियों से वंचित–उत्पीड़ित लोगों के आक्रोश की ज्वाला को भड़क उठने से रोकने के लिए उस पर पानी के छींटे मारना मात्र है। शोषित–उत्पीड़ित दलितों और पिछड़ी जातियों के आक्रोश को व्यवस्था–विरोधी विस्फोट के रूप में फूट पड़ने से रोकने के लिए आरक्षण का हथकण्डा एक सेफ़्टीवॉल्व का काम करता है।**

दलितों के लिए दो दशकों से शिक्षा और रोज़गार के क्षेत्र में लागू आरक्षण से मात्र इतना फ़र्क़ पड़ा है कि उनके बीच से एक अत्यन्त छोटा, सुविधाजीवी मध्य वर्ग पैदा हुआ है जो गाँवों और शहरों में निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलामों का जीवन बिताने वाले दलितों से अपने को पूरी तरह काट चुका है। चूँकि उसे भी ऊँची जातियों के हमपेशा लोगों

के बीच तरह-तरह से, प्रत्यक्ष-परोक्ष सामाजिक अपमान का सामना करना पड़ता है, इसलिए वह उस दलितवादी राजनीति के पक्षधर, प्रवक्ता और सिद्धान्तकार की भूमिका बढ़-चढ़कर निभाता है, जिसका चरित्र तमाम गरमागरम बातों के बावजूद, निहायत सुधारवादी है और जो व्यापक दलित आबादी की भावनाओं को भुनाकर मात्र अपना वोट बैंक मज़बूत करने का काम किया करता है। रिपब्लिकन पार्टी से लेकर बसपा और उदितराज की पार्टी तक, और यही नहीं, तमाम छोटे-छोटे रैडिकल दलित संगठनों से लेकर अधिकांश दलितवादी बुद्धिजीवियों तक–सभी पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही सुधार की गुंजाइश के लिए लड़ते हैं, चाहे उनके तेवर जितने भी तीखे हों। नंगी सच्चाई यह है कि भारत में जब तक पूँजीवाद रहेगा, तब तक उजरती ग़ुलामी रहेगी और दलितों का (और पिछड़ों का भी) बहुलांश तब तक इन्हीं उजरती ग़ुलामों की क़तारों में शामिल रहेगा। जातिगत आधार पर क़ायम पार्थक्य और शोषण-उत्पीड़न का आधार पहले सामन्तवाद था और आज पूँजीवाद है। इसे समाप्त करने के लिए पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी संघर्ष के अतिरिक्त और कोई भी बुनियादी उपाय नहीं है। ज़ाहिर है कि हम केवल आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष की ही बात नहीं कर रहे हैं। व्यवस्था विरोधी यह क्रान्तिकारी संघर्ष उस आमूलगामी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के बिना अधूरा होगा और कभी सफल न हो सकेगा जो जातिगत विभेद को अपने एजेण्डा पर प्रमुखता के साथ स्थान देगा, जो जनता के बीच जातिगत आधार पर क़ायम विभेद को समाप्त करने के लिए सतत सक्रिय होगा। **सच्चाई यह है कि भारतीय समाज में जाति का ज़हर इतनी गहराई तक घर किये हुए है कि किसी सामाजिक-राजनीतिक क्रान्ति के बाद भी, इसके समूल नाश के लिए सतत सांस्कृतिक क्रान्ति के एक लम्बे सिलसिले की ज़रूरत होगी।**

यदि आरक्षण ही समस्या का समाधान होता तो पंजाब में 37 प्रतिशत आरक्षित नौकरियों में से 30,000, हरियाणा में 47 प्रतिशत आरक्षित नौकरियों में से 10,000, हिमाचल प्रदेश में 47 प्रतिशत आरक्षित नौकरियों में से 6,000, बिहार में 50 प्रतिशत आरक्षित नौकरियों में से

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 12 20/01/2014, 10:38 AM

62,500, राजस्थान में 49 प्रतिशत आरक्षित नौकरियों में से 41,565 और मध्यप्रदेश में 50 प्रतिशत आरक्षित नौकरियों में से 11,500 पद ख़ाली नहीं पड़े रहते। अन्य राज्यों की स्थिति भी इससे बेहतर नहीं है। अनुमानतः देशभर में एक लाख ऐसी सरकारी नौकरियाँ हैं जो कोटे के तहत ख़ाली हैं। सच्चाई यह है कि अनुसूचित जातियों-जनजातियों व अन्य पिछड़ी जातियों की बहुसंख्यक आम आबादी की ऐसी आर्थिक-शैक्षणिक स्थिति ही नहीं है कि वह इन नौकरियों के लिए आवेदन कर सके। जो आरक्षित सीटें भर्ती हैं, वे उनके खाते में ही चली जाती हैं जो पहले से ही मध्य वर्ग में शामिल हो चुके हैं। शैक्षणिक स्थिति में परिवर्तन की रफ़्तार यह है कि आज़ादी के 59 वर्षों बाद भी, 79.88 प्रतिशत अनुसूचित जाति के छात्र स्कूली पढ़ाई अधूरी छोड़ देते हैं। उच्च शिक्षा में अनुसूचित जाति-जनजाति के लिए आरक्षित 50 प्रतिशत सीटें ख़ाली रह जाती हैं और आरक्षण के अन्तर्गत दाख़िला लेने वाले 25 प्रतिशत छात्र बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। पिछड़ी जातियों के लिए भी उच्च शिक्षा में आरक्षण लागू होने के बाद स्थिति इससे कुछ भिन्न नहीं होगी। ग़रीब घरों के युवा, आर्थिक कारणों से या तो आरक्षण के बावजूद दाख़िला नहीं ले पायेंगे, या फिर बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने को विवश होंगे। लाभ केवल पिछड़ी जाति के उन थोड़े से परिवारों को ही मिलेगा, जिनकी आर्थिक स्थिति धनी या ख़ुशहाल मध्यम किसान की है या जो खेती से अर्जित मुनाफ़े के सहारे, पहले से ही शहरी मध्य वर्ग की क़तारों में शामिल हो चुके हैं।

आरक्षण के समर्थक इन्हीं आँकड़ों के आधार पर कहेंगे कि इसीलिए आरक्षण को अभी लम्बे समय तक जारी रहना चाहिए और इसके दायरे को भी विस्तारित किया जाना चाहिए। लेकिन हमारा कहना यह है कि इस रफ़्तार से ही यदि आरक्षण का प्रभाव पड़ता रहा तब तो एक शताब्दी बाद भी स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आयेगा। और इससे भी अहम बात यह है कि उदारीकरण-निजीकरण के इस "रोज़गारविहीन विकास" के दौर में जब सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियाँ लगातार कम होती जा रही हैं (और निजी क्षेत्र में भी कुल

मिलाकर उत्पादन के विकास और सेवाक्षेत्र के विस्तार के अनुपात में रोज़गार के अवसर पहले के मुक़ाबले काफ़ी कम पैदा हो रहे हैं) तो ऐसी स्थिति में आरक्षित नौकरियों का प्रतिशत यदि कुछ बढ़ भी जाये तो आम दलित और पिछड़ों की जीवन स्थितियों में भला इससे क्या फ़र्क़ पड़ने वाला है? एक बटलोई भात पर यदि सौ खाने वाले हों और भात का कुछ हिस्सा कुछ प्रतिशत अधिक भूखों के लिए आरक्षित भी कर दिया जाये तो किसी भी भूखे की स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा, क्योंकि भूखों की संख्या की तुलना में भात है ही बहुत कम! आज आरक्षण का प्रतिशत यदि बढ़ा भी दिया जाये और यह पूरी तरह से लागू भी हो जाये, तो भी आम दलितों और पिछड़ों की सामाजिक स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता। पूँजीवादी विकास आबादी का अभूतपूर्व गति से ध्रुवीकरण कर रहा है और यह पूँजीवाद की विशेषता होती है कि जो पहले से ही वंचित और उत्पीड़ित होते हैं, उन्हीं को सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा की क़तारों में सबसे पहले शामिल करता है। दासों-भूदासों और उजड़े काश्तकारों के बेटे ही सबसे पहले उद्योगों के सर्वहारा बनते हैं। भारत में भी दलितों के साथ और पिछड़ी जातियों के बहुलांश के साथ ऐसा ही हुआ। कालान्तर में इनके बीच से, सचेतन प्रयासों से, बुर्जुआ राज्यसत्ता ने एक अत्यन्त छोटी मध्यवर्गीय जमात भी पैदा की, जो मुखर और वाचाल है, जो जातिगत उत्पीड़न पर ख़ूब बोलती है, लेकिन साथ ही आम दलित आबादी और आम पिछड़ों की आबादी से वह अपने को काट चुकी है, वह पराजित मन है, सापेक्षत: विशेषाधिकार-प्राप्त और सुविधाभोगी है तथा हर प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन की विरोधी और घनघोर सुधारवादी है। वह आम दलितों की नुमाइन्दगी का स्वांग भरते हुए अपनी सुविधाओं की पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षा की गारण्टी चाहती है और विकास के पूँजीवादी मॉडल की अन्ध समर्थक है। दलितों और पिछड़ी जातियों के बीच की यही मध्यवर्गीय जमात आरक्षण को समस्या का समाधान बताती है ताकि उसकी स्थिति सुरक्षित रहे और आम वंचित दलित और पिछड़े आकाशकुसुम की अभिलाषा में हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें या फिर याचनाएँ करते रहें और

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 14 20/01/2014, 10:38 AM

वोट बैंक की पूँजीवादी राजनीति के मोहरे बने रहें।

पूँजीवादी व्यवस्था के कर्णधार यही चाहते हैं लेकिन पूँजीवाद के भीतर ही इसकी एक विरोधी आन्तरिक गति भी है। एक ओर जहाँ दलितों का बहुलांश (और पिछड़ी जातियों का भी पर्याप्त बड़ा हिस्सा) पूरे देश के पैमाने पर गाँवों और शहरों की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी में शामिल है, वहीं पूँजी की मार ऊँची जाति की आबादी के एक बड़े हिस्से और पिछड़ी जाति के किसानों के भी एक बड़े हिस्से को लगातार जगह-ज़मीन, नौकरी, सम्पत्ति आदि से वंचित करते हुए सर्वहारा की क़तारों में धकेलती जा रही है। समाज का अन्तरविरोधी यथार्थ यह है कि एक ओर जहाँ जातिगत आधार पर क़ायम विषमता और विभेद को क़ायम रखने वाली और खाद-पानी देने वाली कारक शक्तियाँ सक्रिय हैं, वहीं दूसरी ओर एक विरोधी गति रसातली जीवन जीने वाले उजरती ग़ुलामों (मुख्यत: औद्योगिक सर्वहाराओं) की लगातार बढ़ती आबादी के बीच जातिगत विभेदों को तोड़कर एकता बनाने का एक वस्तुगत आधार भी तैयार कर रही है, जो पूँजी की सर्वग्रासी मार का प्रतिरोध करते हुए, ज़्यादा से ज़्यादा उनके अस्तित्व की शर्त बनती जा रही है। ज़ाहिर है कि पूँजीवादी व्यवस्था के भाड़े के टट्टू आम मेहनतकशों के बीच जातिगत विभेदों को बढ़ाने वाले मनोगत कारकों को बढ़ावा देंगे, जबकि पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी धारा का दायित्व यह होना चाहिए कि वह मेहनतकश जनता के बीच जातिगत आधार पर क़ायम विभेदों को दूर करने वाले और उन्हें बढ़ाने की हर साज़िश को नाकाम करने वाले मनोगत कारकों को बल प्रदान करे। पूँजीवाद भारत में शहरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया को लगातार अभूतपूर्व त्वरित गति से आगे बढ़ा रहा है और साथ ही सर्वहाराकरण की प्रक्रिया तथा पूँजी और श्रम के बीच के अन्तरविरोध को भी। इस नयी सर्वहारा आबादी को जातिगत विभेद मिटाकर वर्गीय आधार पर एकजुट करना सापेक्षत: सुगम होगा और यही हमारा सर्वोपरि लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि तभी हम एक ऐसे फ़ैसलाकुन संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे जो एक ऐसे समाज का निर्माण करेगा जो वर्ग-वैषम्य के साथ ही जाति-वैषम्य, लिंग-वैषम्य

आदि समस्त विषमताओं के ख़ात्मे का फ़ैसलाकुन सिलसिला शुरू करेगा। यह अनायास नहीं है कि आरक्षण की बहस सर्वाधिक उद्वेलन मध्यवर्गीय जमातों में, और विशेषकर शहरी मध्यवर्गीय जमातों में पैदा करती है, शहरी सर्वहाराओं में नहीं। गाँवों में जो दलित और ग़रीब पिछड़ी जातियाँ हैं, वे या तो आर्थिक शोषण के साथ बर्बर सामाजिक उत्पीड़न झेलती हुई वोट बैंक की राजनीति का मोहरा बनी रहती हैं, या फिर एकजुट होकर क्रान्तिकारी ढंग से लड़ती हैं और नतीजे के तौर पर प्रायः एक हद तक स्वाभिमान-सम्मान से जीने का हक़ भी हासिल कर लेती हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर जहाँ वर्गीय आधार पर संघर्ष को संगठित करने के लिए आम जनता के बीच जड़ जमाये जातिवादी मानसिकता और संस्कृति को समाप्त करने के लिए सतत प्रयास करना होगा, वहीं वर्गीय आधार पर संगठित जनसंघर्ष की सफलता ही जातिगत विभेद के निर्णायक उच्छेद की पहली गारण्टी हो सकती है। इस ऐतिहासिक-वैज्ञानिक सूत्र को पकड़कर ही आरक्षण के प्रश्न को सही ढंग से समझा जा सकता है और सही अवस्थिति अपनायी जा सकती है।

आरक्षण की माँग यदि क्रान्तिकारी संघर्ष की दीर्घकालिक प्रक्रिया के दौरान, सुधार की एक माँग होती तो बेशक हम इस पर सवाल नहीं उठाते। सोलह आने की लड़ाई के फ़ैसलाकुन दौर से पहले, ऐसे भी दौर आते हैं जब दो आने की लड़ाई जीतकर हासिल को हस्तगत कर लिया जाता है और फिर आगे की तैयारी की जाती है। लेकिन दो-दो आने करके सोलह आने हासिल करने की सोच एक सुधारवादी सोच होती है, जो मौजूदा व्यवस्था को कमज़ोर करने के बजाय मज़बूत बनाती है और जनता की क़तारों में दरारें पैदा करती है। आरक्षण की माँग एक ऐसी ही भयंकर भ्रमोत्पादक सुधारवादी माँग है। यह दलितवादी राजनीति की उन तमाम धाराओं के चार्टरों का साझा मुद्दा है, जो इस पूँजीवादी लूट-मार की व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर ही जाति-प्रश्न का निदान चाहती हैं। आरक्षण से यदि आम दलित और आम पिछड़ी जातियों की बहुसंख्यक आबादी की वास्तविक स्थिति में कोई बदलाव आता, तो इस सुधार को

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 16 20/01/2014, 10:38 AM

स्वीकारते हुए एक नयी सामाजिक व्यवस्था के लिए संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ना ही उचित क़दम होता। पर वास्तविकता इसके विपरीत है। आरक्षण सुधार की माँग नहीं बल्कि एक सुधारवादी माँग है। यह आम उत्पीड़ित जातियों की जनता के हितों की दुहाई देती हुई, उनके एक अत्यन्त छोटे-से (लगभग नगण्य) हिस्से को मलाई चटाकर स्वामिभक्त और सत्ता का चाटुकार बनाती है, जबकि दूसरी ओर जातिगत आधार पर मेहनतकश आबादी को और आम मध्यवर्गीय आबादी को बाँट देती है तथा समस्या की मूल जड़ और मूल समाधान को दृष्टिओझल कर देती है। यह जाति-प्रश्न के निर्णायक समाधान की दिशा में जारी यात्रा को आगे बढ़ाने के बजाय दिग्भ्रमित करती है और रास्ते से भटका देती है। इसीलिए, अपने जातिवादी पूर्वाग्रहों के बावजूद सभी पूँजीवादी सिद्धान्तकार, राजनीतिज्ञ और पार्टियाँ आरक्षण के प्रश्न पर एकराय हो जाते हैं। इस शिगूफ़े के उछलते ही, सवर्ण मानस वर्चस्व वाला मीडिया और शिक्षित मध्य वर्ग दलित और पिछड़ी जातियों के विरुद्ध विषवमन करना शुरू कर देता है और पूरे समाज में जातिगत विभेद और पार्थक्य की संस्कृति को मानो एक नयी शक्ति मिल जाती है। आरक्षण के समर्थन और विरोध की राजनीतियाँ एक समान उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। वे भ्रामक और मिथ्या आशा पैदा करती हुई आम आबादी के सदियों पुराने जातिगत विभाजन को मज़बूत बनाकर उसकी वर्गीय एकता क़ायम करने के उपक्रमों को कमज़ोर और निष्प्रभावी बना देती हैं। इसलिए, महज़ प्रतिक्रियावश, तथ्यों की अनदेखी करते हुए, आरक्षण का समर्थन करने वालों को भी सोचना ही होगा कि इससे उन्हें वास्तव में भला क्या हासिल होने वाला है!

मान लीजिये कि आप किसी बस स्टैण्ड पर खड़े हैं और लगातार कई भरी बसें गुज़रने के बाद आप मुश्किल से किसी बस में लटक पाते हैं या घुसकर पैर टिका पाते हैं तो आप प्रायः पहले से बैठे मुसाफ़िरों से ग़ुस्सा होते हैं और जो पहले से बैठे होते हैं उनका भी रवैया आपके प्रति निहायत बेरुख़ी का होता है। आपका क्रोध लचर परिवहन व्यवस्था और बसों की संख्या की कमी पर

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 17 20/01/2014, 10:38 AM

लक्षित होना चाहिए और इसमें बैठे हुए मुसाफ़िरों को भी साथ लेने की कोशिश होनी चाहिए, पर व्यवहार में प्रायः ऐसा नहीं होता। एक राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था में भी प्रायः ऐसा ही होता है और शिक्षा तथा नौकरियों में आरक्षण के प्रश्न पर भी ऐसा ही हो रहा है। लड़ाई एक ऐसी व्यवस्था के लिए होनी चाहिए जिसमें सबके लिए समान और निःशुल्क शिक्षा हो और सबके लिए नौकरियों के समान अवसर हों। आर्थिक विश्लेषण बताता है कि उत्पादन यदि चन्द लोगों के मुनाफ़े के लिए न होकर सामाजिक उपयोगिता के लिए हो तो ऐसा सम्भव हो सकता है। बीसवीं शताब्दी में समाजवादी क्रान्तियों के प्रथम संस्करण विफल भले ही हो गये हों लेकिन उन्होंने इसे सम्भव कर दिखाया था। आज उत्पादक शक्तियों के अभूतपूर्व विकास के बावजूद पूँजीवाद आम आबादी पर जो क़हर बरपा कर रहा है, उसे देखते हुए एक बार फिर सर्वहारा क्रान्तियों के नये संस्करण अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगे हैं। ये नयी क्रान्तियाँ जब उत्पादन, राज-काज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले लोगों का नियन्त्रण क़ायम करेंगी और उनके हाथों में फ़ैसले की ताक़त देंगी, तभी जाकर सभी को समान और निःशुल्क शिक्षा मिल सकेगी और सभी काम करने वालों को काम मिल सकेगा। आरक्षण की माँग यदि 'सभी को समान एवं निःशुल्क शिक्षा तथा सबके लिए रोज़गार' की लड़ाई की एक कड़ी होती या इसे आगे बढ़ाने में सहायक होती, तो बेशक इसका समर्थन किया जा सकता था। लेकिन एक तो इससे आम दलित या पिछड़े को मिलता कुछ भी नहीं, दूसरे यह अन्तिम समाधानकर्ता संघर्ष के लिए जुड़ती युवा क़तारों को ही जातिगत आधार पर बाँट देती है। इस तरह सामाजिक न्याय का भ्रामक नारा देते हुए आरक्षण का मुद्दा उस पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ों को ही मज़बूत बनाता है, जिसके रहते हुए जाति-वैषम्य का ख़ात्मा सम्भव ही नहीं है।

आरक्षण के पक्ष में तर्क देते हुए दलित नेता उदित राज लिखते हैं : "*साधारण स्कूलों में पढ़ने वाले जिन बच्चों के माँ-बाप पढ़े-लिखे नहीं हैं और बच्चा स्कूल के बाद घर के कामकाज में हाथ बँटाता है, अगर*

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 18 20/01/2014, 10:38 AM

वह कुछ अंकों की छूट माँगता भी है तो इसमें कौन-सी बुराई है? जो मापदण्ड पिछड़ों और दलितों के लिए निर्धारित किया जा रहा है, यदि यूरोप और अमेरिका वही भारत के लिए तय करने लगें तो क्या वे अपनी खोज, आविष्कार या तकनीक का इस्तेमाल करने देंगे? कौन-सी मौलिक खोज या आविष्कार भारत में हुआ, जिसे लेकर अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर गर्व किया जा सके? बात कुल मिलाकर स्वार्थ की है कि अभिजात वर्ग के कुछ ही लोग इन संस्थाओं का फ़ायदा उठाना चाहते हैं और इससे ग़रीब या आम सवर्ण प्रभावित नहीं होता" (जनसत्ता, 2 जून, 2006)। उदित राज की इस तर्क प्रणाली की पड़ताल के माध्यम से आरक्षणवादी राजनीति के वर्ग-चरित्र को आसानी से समझा जा सकता है। पहली बात तो यह कि आरक्षण के नाम पर मिलने वाली छूट का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा ही वास्तव में अशिक्षित दलित माँ-बाप के उन बच्चों तक पहुँच पाता है जो स्कूल के बाद घर के कामकाज में माँ-बाप का हाथ बँटाते हैं। दूसरी बात यह कि आरक्षण की इस छूट का लाभ पूरी तरह से ऐसे बच्चों तक पहुँच भी जाये तो इन बच्चों की संख्या के अनुपात में इस छूट की मात्रा अत्यन्त कम पड़ेगी। तीसरी बात यह कि जब उदित राज स्वयं मानते हैं कि नौकरियों व अन्य विशेषाधिकारों के लाभ से ग़रीब व आम सवर्ण वंचित होता है तो फिर क्या आरक्षण का नारा इन ग़रीबों को दलित व पिछड़ी जाति के ग़रीबों से और दूर करने काम नहीं करता? ग़रीब सवर्णों को साथ लेने के लिए उनके पास क्या कार्यक्रम है? कोई कह सकता है कि इसका उपाय है कि आर्थिक आधार पर भी आरक्षण दिया जाये। हम सभी जानते हैं कि सरकारी दफ़्तरों से हर प्रभावी आदमी कम आमदनी का नक़ली आय प्रमाणपत्र बनवा लेगा लेकिन बहुत कम आम ग़रीब ही इसका लाभ लेने में सफल हो सकेंगे। और फिर यहाँ भी सवाल वही है कि जब नौकरियाँ हैं ही नहीं तो उस आय प्रमाणपत्र से भी भला क्या हासिल होगा? और जब आर्थिक स्थिति बहुसंख्य ग़रीबों को शिक्षा बीच में ही छोड़ देने के लिए मजबूर कर देती है तो फिर शिक्षा के क्षेत्र में हासिल आरक्षण में भला किसको कितना लाभ मिल सकेगा, ख़ासकर तब जबकि शिक्षा के क्षेत्र

में भी प्राथमिक से लेकर उच्च स्तर तक निजीकरण की प्रक्रिया लगातार जारी है और शिक्षा ज़्यादा से ज़्यादा बिकाऊ माल बनती जा रही है?

उदित राज ने जाति व्यवस्था की तुलना (या सादृश्य-निरूपण) पूँजीवादी विश्व व्यवस्था के साथ की है और यह तर्क दिया है कि जिस प्रकार अपनी खोजों, आविष्कारों और तकनीकों का इस्तेमाल करने देने की "उदारता" अमेरिका जैसे देश भारत के साथ बरतते हैं, उसी प्रकार की "उदारता" आरक्षण के मामले में सवर्ण समाज को भी दलित समाज के प्रति बरतनी चाहिए। यह तुलना अपनेआप में उदित राज की वर्ग-दृष्टि का जीता-जागता प्रमाण है। पहली बात तो यह कि साम्राज्यवादी देश अपनी खोजों व तकनीकों को ग़रीब देशों को यूँ ही नहीं देते बल्कि रायल्टी और मनमानी शर्तों पर लूट के रूप में उसकी भरपूर क़ीमत वसूलते हैं (साथ ही, यह भी ध्यान रखना होगा कि उनकी खोजों और तकनीकी प्रगति के पीछे उपनिवेशों की लूट का कितना बड़ा हाथ था!)। दूसरी बात यह कि साम्राज्यवादी देशों की इस "उदारता" के बावजूद अमेरिका जैसे देशों और भारत जैसे देशों के बीच के अन्तर और असमानतापूर्ण सम्बन्धों का अन्त मौजूदा विश्व व्यवस्था के रहते सम्भव नहीं है। यानी सवाल साम्राज्यवादी देशों से छूट हासिल करने का नहीं बल्कि पूँजीवादी विश्व व्यवस्था से निर्णायक विच्छेद करने का और फिर इस विश्व व्यवस्था का ध्वंस करने का है। ठीक उसी प्रकार, जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में भी प्रश्न कुछ छूट हासिल करने का नहीं बल्कि जाति व्यवस्था को ही समाप्त करने का है और आरक्षण की माँग किसी भी रूप में इसमें सहायक नहीं है बल्कि इसके प्रतिकूल भूमिका निभाती है।

एक अन्य स्वनामधन्य दलित चिन्तक चन्द्रभान प्रसाद हैं जो अमेरिकी शैली की पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था के कट्टर समर्थक हैं और उसी फ़्रेमवर्क में दलित प्रश्न का भी समाधान ढूँढ़ते हैं। आज ऐसे भारतीय बुद्धिजीवियों की कमी नहीं है, जो अमेरिका द्वारा बेहिसाब विश्वव्यापी लूट, अमेरिकी समाज के अन्दरूनी संकटों तथा उसमें व्याप्त गहन असमानता, उत्पीड़न और निरंकुशता की अनदेखी करते हुए, उसे समृद्ध और सुखी समाज के आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। ऐसे बुद्धिजीवी

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 20 20/01/2014, 10:38 AM

दलित समाज में भी पैदा हो गये हैं और चन्द्रभान प्रसाद उनमें अग्रणी हैं। चन्द्रभान प्रसाद जैसों की जमात "दलित पूँजीवाद" का अनूठा विचार लेकर सामने आयी है। उसका मानना है कि निजी क्षेत्र के उद्योगों में और उच्च शिक्षा संस्थानों में (जो उनके विचार से ज़्यादातर निजी क्षेत्र में होने चाहिए) "जाति वैविध्य" को बढ़ावा देने से दलितों के बीच से भी एक पूँजीपति वर्ग तथा नौकरशाहों एवं बुद्धिजीवियों सहित मध्य वर्ग के विभिन्न संस्तर विकसित होंगे और इस प्रकार जाति प्रश्न का समाधान हो जायेगा। चन्द्रभान प्रसाद ब्राण्ड दलित चिन्तकों का मानना है कि सार्वजनिक क्षेत्र की समाप्ति और निजीकरण–उदारीकरण की लहर अनिवार्य है और इसे न्यायसंगत बनाने की गुंजाइश अधिक है। नवउदारवाद के इन पैरोकारों की सोच यह है कि यदि अमेरिका में अश्वेतों के लिए 1965 से लागू "सकारात्मक कार्रवाई" (अफ़र्मेटिव एक्शन) की ही तरह भारत में भी निजी क्षेत्र के उच्च शिक्षा संस्थानों तथा औद्योगिक–वित्तीय एवं सेवा क्षेत्र के प्रतिष्ठानों में दलितों के लिए आरक्षण को अनिवार्य कर दिया जाये तो दलितों के बीच से भी एक सम्पत्तिशाली मध्य वर्ग और उद्योगपति वर्ग पैदा हो जायेगा और उनके सामाजिक पार्थक्य, अपमान और उत्पीड़न का ख़ात्मा हो जायेगा। सच पूछें तो इससे अधिक प्रतिक्रियावादी, दलित–विरोधी सोच और कोई हो भी नहीं सकती।

सबसे पहले तो यह देखना होगा कि 1965 से अमेरिका में अश्वेत लोगों के लिए लागू "सकारात्मक कार्रवाई" से उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति पर क्या फ़र्क़ पड़ा है! निस्सन्देह, विगत चार दशकों के दौरान कारपोरेट जगत के उच्चाधिकारियों, नौकरशाहों, बुर्जुआ राजनयिकों और पत्रकारों, अकादमीशियनों आदि की जमात में काले लोगों की भागीदारी बढ़ी है और एक अच्छे–ख़ासे आयतन वाला अश्वेत मध्य वर्ग अस्तित्व में आया है (हालाँकि अभी भी कुछ छोटे–मोटे उद्यमियों–व्यापारियों को छोड़कर "अश्वेत पूँजीवाद" जैसी कोई चीज़ अमेरिका में भी अस्तित्व में नहीं आयी है)। लेकिन यह पूरा अश्वेत मध्य वर्ग समूची अश्वेत आबादी का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा है। बहुसंख्यक अश्वेत आज भी निकृष्टतम कोटि के उजरती मज़दूरों का जीवन बिताते हैं और समृद्धि

के द्वीप महानगरों को घेरे हुए झुग्गी-झोंपड़ियों जैसी गन्दी बस्तियों के अन्धकार-वलय के निवासी बने हुए हैं। अमेरिका में रहने वाले मुलैटो, चिकानो मूल के मज़दूरों और लातिन अमेरिका व एशियाई देशों से गये आप्रवासी मज़दूरों और अमेरिकी अश्वेत मज़दूरों को अमेरिकी समाज में न केवल बर्बर शोषण और असुरक्षा का, बल्कि सामाजिक पार्थक्य और अपमान का भी सामना करना पड़ता है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना पड़ा है कि अमेरिकी समाज में भी धनी-ग़रीब के बढ़ते ध्रुवीकरण ने इन शापित जमातों में श्वेत आबादी के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को भी उजरती ग़ुलाम बनाकर ला खड़ा किया है। नस्लवाद और रंगभेद आज भी अमेरिकी समाज में मौजूद है, बस उसका रूप कुछ बदल गया है। अमेरिकी जेलों में रहने वाले बन्दियों में आज भी पचहत्तर फ़ीसदी से भी अधिक अश्वेत, और लातिन अमेरिकी या एशियाई मूल के लोग हैं। सबसे कम मज़दूरी और कठिन श्रम वाले काम भी यही आबादी करती है। अश्वेतों को यदि आज से चार दशक पहले की अपेक्षा रंगभेद और अपमान का कम सामना करना पड़ता है तो इसका कारण "सकारात्मक कार्रवाई" या कुछ थोड़े से अश्वेतों का समृद्ध हो जाना नहीं है, बल्कि यह अश्वेतों के जुझारू आन्दोलनों, अमेरिकी नागरिक अधिकार आन्दोलन और अश्वेतों की प्रबल भागीदारी वाले अमेरिकी मज़दूर आन्दोलन के परिणामस्वरूप सम्भव हुआ है। किसी भी समाज में वंचितों-उत्पीड़ितों के बीच से ऊपर उठकर एक छोटा-सा हिस्सा यदि समृद्धशाली जमातों में शामिल हो जाता है, तो इससे वंचित-उत्पीड़ित आबादी की वास्तविक स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं आता और बस होता यह है कि उस स्थिति पर एक हद तक पर्दा पड़ जाता है। अमेरिकी पैटर्न पर "सकारात्मक कार्रवाई" की माँग करने वाले "दलित पूँजीवाद" के पैरोकार तो वास्तव में दलित आबादी के सबसे घटिया दर्जे के भितरघाती, अव्वल दर्जे के प्रतिक्रियावादी और आज के नवउदारवादी पूँजीवाद के सर्वाधिक निर्लज्ज टुकड़ख़ोर हैं जो तथ्यों को छुपाकर भारत के दलितों के सामने अमेरिकी समाज की गुलाबी तस्वीर पेश करते हैं और उन्हें देशी पूँजीवाद और समूची साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था की सेवा में सन्नद्ध कर देना चाहते

हैं। ऐसा करते हुए चन्द्रभान प्रसाद जैसे लोग इस तथ्य की भी अनदेखी करते हैं कि अमेरिकी पूँजीपति वर्ग अपने देश में दबाव बढ़ने पर, अपने नन्दन कानन को वर्ग-संघर्ष की आँच से बचाने के लिए अश्वेतों और अन्य वंचित जमातों को, पूरी दुनिया से निचोड़े जाने वाले अकूत मुनाफ़े के बल पर, एक हद तक सुविधाएँ, छूट और अधिकार दे भी सकता है, लेकिन भारतीय पूँजीपति वर्ग की इतनी औक़ात नहीं है। यह अकारण नहीं है कि भारतीय पूँजीपतियों के राहुल बजाज जैसे प्रतिनिधि अमेरिकी पैटर्न की "सकारात्मक कार्रवाई" को स्वीकारने की बात तो करते हैं, लेकिन उसे पूरी तरह स्वैच्छिक बनाये रखने की बात करते हैं जबकि अमेरिका में सकारात्मक कार्रवाई को 1964 के नागरिक अधिकार क़ानून और कार्यकारी निर्देश सं. 11246 के द्वारा क़ानूनी तौर पर (हालाँकि एक हद तक ही) बाध्यताकारी बना दिया गया था।

यदि दलितों के बीच से कुछ पूँजीपति और उच्च अधिकारी पैदा हो जाने से दलित-प्रश्न का समाधान होना होता, तो पिछले पाँच दशकों के भीतर तमाम दलित राजनेता, कलक्टर, अन्य सरकारी अधिकारी और एक छोटे से दलित मध्य वर्ग के पैदा हो जाने से आम दलितों की स्थिति में कुछ तो फ़र्क़ आया होता! बेशक, कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो कहेंगे कि फ़र्क़ तो आया ही है। इतना मात्रात्मक फ़र्क़ तो समाज-विकास की स्वाभाविक क्रमिक गति के साथ आता ही है! इसी रफ़्तार से बदलाव की उम्मीद में यदि कोई बैठा रहे तो, तब तो उसे शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी होगी। इस तरह से तो कोई भी इंसाफ़पसन्द और ख़ुद्दार इंसान नहीं सोच सकता। यह नियतिवादी कायरता के साथ यथास्थिति को स्वीकारने की मानसिकता होगी। **दलितों के बीच से जो एक सुविधाभोगी मध्य वर्ग पैदा हुआ है, वह अपने सामाजिक अपमान और जातिगत पार्थक्य से छुटकारा तो चाहता है लेकिन डरता भी है कि किसी प्रकार की क्रान्तिकारी बदलाव की आँधी उसकी सुविधाओं और सामाजिक सुरक्षा को छीन लेगी। इस कायरता के चलते, वह गरमागरम बातें तो करता है लेकिन इसी व्यवस्था की चौहद्दी के भीतर रहकर जिस हद तक सम्भव हो, उस हद तक कुछ पा लेने**

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 23 20/01/2014, 10:38 AM

की कोशिश करता है! साथ ही, वह बोलता तो पूरी दलित आबादी की ओर से है, पर आम दलितों से उसने अपने को पूरी तरह से काट लिया है और बर्बरतम दलित उत्पीड़न की घटना होने पर भी वह किसी आन्दोलन में सड़क पर उतरकर जुझारू भागीदारी के बजाय बस गरमागरम बयानबाज़ी ही करता रहता है। जो लोग वंचितों-उत्पीड़ितों के बीच से ऊपर उठकर सफ़ेदपोशों की जमात में शामिल होते हैं, वे कायरता, गलाज़त और प्रतिक्रियावादी मानसिकता के मामले में परम्परागत सफ़ेदपोशों से भी बढ़-चढ़कर होते हैं। चन्द्रभान प्रसाद "दलित पूँजीवाद" के लिए बेहाल हैं, उन्हें उन बहुसंख्य दलितों की चिन्ता नहीं है जो ऐसे दलित पूँजीपतियों और अन्य पूँजीपतियों के कारख़ानों में उजरती ग़ुलामी करते हुए अपनी ज़िन्दगी जलाते-गलाते रहेंगे।

हमारा पक्ष

आरक्षण-विरोधियों और आरक्षण समर्थकों से तर्क-वितर्क करने की प्रक्रिया में, हम समझते हैं कि हमारा पक्ष स्वत: स्पष्ट हो गया है। हमारे विचार से **आरक्षण चाहे लागू हो या न लागू हो, दलितों और पिछड़ी जाति के ग़रीबों की स्थिति में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं पड़ेगा। जाति-प्रश्न के समाधान की दिशा में यह एक छोटा-सा भी क़दम नहीं है। आरक्षण का शिगूफ़ा उछालकर शासक वर्ग बहुसंख्यक शोषित-वंचित-उत्पीड़ित आबादी को जातिगत आधार पर विभाजित कर देता है और उस लड़ाई के संगठित होने की प्रक्रिया को ही बाधित कर देता है, जो हमारे समाज के तमाम बुनियादी प्रश्नों के साथ ही जाति-प्रश्न के समाधान की प्रक्रिया को भी आगे बढ़ायेगी और अंजाम तक पहुँचायेगी। आरक्षण का लक्ष्य राहत या सुधार नहीं, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए एक लुकमा फेंककर जनता को जातिगत आधार पर बाँटना है। इसका समर्थन या विरोध करने वाले जाने-अनजाने एक ही साज़िश का**

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 24 20/01/2014, 10:38 AM

शिकार हो जाते हैं।

इसीलिए, हमारा पक्ष यह है कि **हम आरक्षण का न तो समर्थन करते हैं, न ही विरोध। हम इस मुद्दे पर जनता के बँट जाने की स्थिति को ही एक कुचक्र मानते हैं और इसका विरोध करते हैं। शिक्षा और नौकरी में किसी प्रकार का आरक्षण नहीं बल्कि छात्र-युवा आन्दोलन की आज एक ही केन्द्रीय माँग हो सकती है – 'सभी के लिए समान और निःशुल्क शिक्षा तथा काम करने योग्य हर व्यक्ति के लिए रोज़गार।'** शिक्षा और रोज़गार हम सरकार की ज़िम्मेदारी मानते हैं और जिस व्यवस्था में यह सम्भव न हो सके, उसे उखाड़ फेंकना हम आम जनता के बहादुर बेटे-बेटियों का बुनियादी कर्त्तव्य मानते हैं। निश्चय ही, इस माँग के लिए लड़ते हुए बीच की कुछ मंज़िलें हो सकती हैं, जब तात्कालिक तौर पर सीटें बढ़ाने, फ़ीसें घटाने या बेरोज़गारी भत्ता जैसी किसी माँग के लिए लड़ा जा सकता है, लेकिन इन आंशिक, तात्कालिक या सुधारमूलक माँगों की श्रेणी में भी आज आरक्षण को शामिल नहीं किया जा सकता, ख़ासकर तब जबकि विगत आधी सदी का अनुभव हमारे सामने है। हमें आरक्षण का समर्थन या विरोध करने और आपस में बँट जाने के बजाय आरक्षण के समर्थन और विरोध की राजनीति के वास्तविक व्यवस्थाधर्मी चरित्र का विश्लेषण और पर्दाफ़ाश करना चाहिए।

साथ ही, **क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन का यह अनिवार्य दायित्व है कि वह जातिगत भेदभाव, पार्थक्य तथा दलित उत्पीड़न के विरुद्ध लगातार प्रचार और आन्दोलन की कार्रवाई चलाये। जाति-विरोधी आन्दोलन को सामाजिक-सांस्कृतिक स्तरों पर लगातार चलाते हुए इसे स्त्री मुक्ति के प्रश्न से भी जोड़ा जाना चाहिए, क्योंकि जाति-आधारित पार्थक्य व उत्पीड़न, लैंगिक आधार पर क़ायम स्त्रियों के पार्थक्य व उत्पीड़न के साथ जुड़ा हुआ है। स्त्रियों की सामाजिक मुक्ति के साथ ही जाति के भीतर तय करके होने वाले विवाहों की रूढ़ि भी कमज़ोर पड़ेगी, युवा स्त्रियाँ विवाह के मामले में चयन की आज़ादी के लिए संघर्ष करेंगी और ऐसी**

Aarakshan paksha vipaksha new.pmd 25 20/01/2014, 10:38 AM

स्थिति में लाज़िमी तौर पर अन्तरजातीय, अन्तरधार्मिक विवाहों का भी चलन बढ़ेगा। इस रुझान के संकेत पहले भी महानगरीय जीवन में देखने को मिलते थे, जो अब पूँजीवादी विकास के साथ ही आम प्रवृत्ति बनती जा रही है। जाति-विभेद की दीवारों को ढहाने के लिए छात्र-युवा आन्दोलन को एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देना चाहिए।

'सबके लिए समान एवं निःशुल्क शिक्षा और सबके लिए रोज़गार के समान अवसर' का नारा जातिगत बँटवारे को समाप्त कर आम जनता के सभी बेटे-बेटियों को एक जुझारू संघर्ष के झण्डे तले एकजुट कर देगा और साथ ही, यह छात्रों-युवाओं के आन्दोलन को व्यापक मेहनतकश जनता के साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी संघर्ष की धारा के साथ भी जोड़ देगा। इस एकजुटता के बाद ही इस व्यवस्था का ध्वंस करने और ऐसी नयी व्यवस्था का निर्माण करने की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्ग काबिज़ हो सकेंगे और फ़ैसले की ताक़त वास्तव में उनके हाथों में आ सकेगी।

जातिगत विभेद, वैषम्य और पार्थक्य का मूल आधार पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली है, जिसमें पुराने ज़माने के दासों-भूदासों-अर्द्धदासों के वंशज आज के नये गुलामों के रूप में – उजरती मज़दूरों के रूप में खट रहे हैं। इन्हीं वंशजों में से एक बेहद छोटी आबादी यदि सफ़ेदपोश होकर ऊपर के पद-सोपान पर चली गयी है तो पुराने सफ़ेदपोशों के वंशजों की एक बड़ी आबादी कंगाल होकर उजरती गुलामों की भारी आबादी में शामिल हो गयी है। इस उजरती गुलामी की बेड़ियों को तोड़ते हुए हमें जातिगत आधार पर क़ायम पार्थक्य व उत्पीड़न के विरुद्ध भी लड़ना होगा और इन बेड़ियों को तोड़ने के बाद ही जाति-विभेद के प्रश्न को निर्णायक और अन्तिम रूप से हल किया जा सकता है।

रियायतख़ोरी और पैबन्दसाज़ी की मानसिकता से मुक्त होकर दलित-मुक्ति के प्रश्न और समूची जाति समस्या पर इस पूँजीवादी व्यवस्था की सीमाओं का अतिक्रमण करके सोचने पर ही इनके

निर्णायक और अन्तिम समाधान की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है। दलितों के लिए राहत के चन्द टुकड़े जुटाने के बजाय, उनमें से कुछ को सफ़ेदपोश बनाकर शेष को झूठी उम्मीद के सहारे लटकाये रहने के बजाय, ज़रूरत इस बात की है कि दलित-मुक्ति की आमूलगामी परियोजना का खाका प्रस्तुत किया जाये। यह आमूलगामी परियोजना जनमुक्ति की किसी व्यापक क्रान्तिकारी परियोजना के एक अंग के रूप में ही सम्भव हो सकती है।

शताब्दियों से सर्वाधिक व्यवस्थित और सर्वाधिक बर्बर शोषण-दमन के शिकार दलित देश की कुल आबादी के क़रीब 30 प्रतिशत हैं और इनमें से 90 प्रतिशत ग्रामीण और शहरी सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा की क़तारों में शामिल हैं। इनमें यदि पिछड़ी जाति के ग़रीबों और जनजातियों को भी जोड़ दें तो यह कुल आबादी की आधी से भी अधिक हो जायेगी। भारत में समाजवाद के लिए संघर्ष तभी आगे बढ़ सकता है, जब आबादी का यह हिस्सा सम्पूर्ण जनता की मुक्ति और स्वतन्त्रता-समानता की वास्तविक स्थापना की परियोजना के रूप में उसे अंगीकार करे। दूसरी ओर, समाजवादी क्रान्ति की परियोजना से जुड़े बिना दलित-मुक्ति का प्रश्न और जाति-विभेद का सम्पूर्ण प्रश्न भी असमाधेय बना रहेगा तथा समाजवादी क्रान्ति को जीवन के हर क्षेत्र में दीर्घावधि तक लगातार चलाये बिना समाज को उस मुक़ाम तक पहुँचाया ही नहीं जा सकता जब जाति, धर्म या लिंग के आधार पर किसी भी तरह की असमानता या उत्पीड़न बचा ही नहीं रह जायेगा।

जाति समस्या और दलित प्रश्न पर विचार के इसी व्यापक क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य में हम आरक्षण के प्रश्न को भी देखते हैं और हमारे विचार से भारत के हर परिवर्तनकामी छात्र और नौजवान को इस प्रश्न पर इसी तरह से सोचना चाहिए।

(जून, 2006)

• • •

आह्वान पुस्तिका–1

छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?

1. किस चीज़ का इन्तज़ार है? और कब तक? दुनिया को तुम्हारी ज़रूरत है!

2. उम्मीद महज़ एक भावना नहीं है!

3. छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?

परिवर्तनकामी नौजवानों की पत्रिका 'आह्वान कैम्पस टाइम्स' के इन तीन सम्पादकीय लेखों में छात्र-युवा आन्दोलन के सामने मौजूद बेहद अहम सवालों पर सोचते हुए ऐसे ज़रूरी मुद्दे उठाये गये हैं जिन पर, हमारी समझ से, परिवर्तन की इच्छा रखने वाले हर नौजवान को अवश्य ही विचार करना चाहिए।

भावी क्रान्ति की तैयारी की राह की कुछ बुनियादी बाधाओं, समस्याओं और चुनौतियों की चर्चा करते हुए इन लेखों में क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी का आह्वान किया गया है कि उन्हें क्रान्ति के विज्ञान को समझना होगा और अपनी वैज्ञानिक समझ के सहारे अपने देश-काल की परिस्थितियों को समझकर नयी क्रान्तियों की राह निकालनी होगी।

यह पुस्तिका भारत में क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तन की लम्बी और संघर्षपूर्ण राह के राहियों को आगे का रास्ता तलाशने में अवश्य मददगार होगी।

मूल्य : 10 रुपये
प्रकाशक : राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ
मुख्य वितरक : जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
ईमेल: janchetna@rediffmail.com
ahwancampustimes@gmail.com